हिंदू-एकता बनाम ज्ञान की राजनीति (2019)
अभय कुमार दुबे
सीएसडीएस-वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
मूल्य : 250 रुपये (पेपरबैक); पृष्ठ : 278

बहुसंख्यकवाद विरोधी संघर्ष की चुनौतियाँ

आदित्य निगम

अपनी हालिया किताब *हिंदू एकता बनाम ज्ञान की राजनीति* के लिए अभय कुमार दुबे का शुक्रिया अदा किया जाना चाहिए। उन्होंने एक न्यायसंगत व समावेशी हिंदुस्तान के लिए जारी संघर्ष से संबंधित कई अहम सवाल खड़े किये हैं। ख़ास तौर पर एक ऐसे वक़्त में जब पाले खिंचे हों और जंग का डंका बज रहा हो, तब अपने गिरेबान में झाँक कर अपने ही ख़ेमे के लोगों पर सवाल खड़े करना, अपने ही लोगों से जवाब-तलब करना बड़ी हिम्मत का काम है। वैसे तो अर्जुन के सामने भी ऐन वक़्त पर कई अपनों को दूसरी तरफ़ खड़ा देखकर कई क़िस्म के सवाल खड़े हो गये थे। उन्हें भी ज़बरदस्त ऊहापोह की हालत से गुज़रना पड़ा था। एक महाभारत आज भी जारी है। अभी कई पड़ाव आने हैं, कई बार अज्ञातवास के लाक्षागृहों से गुज़रना होगा और मुमकिन है कि बहुत से ऐसे लोग जिन्हें इधर होना चाहिए अंत तक उधर ही रह जाएँ। कुछ हमारी ग़लतियों के चलते, तो कुछ अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के कारण। कशमकश शायद बनी ही रहे, उलझनें शायद कभी न सुलझें। मगर यह कोशिश तो होनी ही चाहिए कि हमारी अपनी ग़लतियों और ग़लत आकलनों की वजह से ऐसा न हो। यह दीगर बात है कि अभय कुमार दुबे में कोई ऊहापोह नहीं है, तस्वीर उनके सामने बिल्कुल साफ़ है। उन्हें किसी कृष्ण की या गीता प्रवचन की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि उनके पास सवाल कम हैं आरोप ज़्यादा। बेशक़ इनमें से बहुत से इलज़ाम सही हो सकते हैं। मेरी समझ से सही ही हैं, और इसलिए हमें शायद उन पर बारीकी से तवज्जो देनी चाहिए। लिहाज़ा अभय के तेवर की आक्रामकता को फ़िलहाल एक तरफ़ रख कर ही मैं आगे की चंद बातें

कहना चाहूँगा ताकि उन महत्त्वपूर्ण सवालों पर बात हो सके जिन्हें वे उठा रहे हैं।

अभय की किताब का केंद्रीय सरोकार जिसे वे मध्यमार्गी विमर्श या बहुसंख्यकतावाद-विरोधी विमर्श कहते हैं उसकी कुछ ऐसी ख़ामियों से है जिनके चलते वह हिंदू एकता के प्रोजेक्ट और संघ परिवार के किरदार को लगातार ग़लत ढंग से पढ़ता है। आगे बढ़ने से पहले एक बात और साफ़ करना ज़रूरी है :

> यह विमर्श सेकुलर आइडियोलॅजी या विचारतंत्र नहीं है जैसे कि पिछले दिनों योगेंद्र यादव ने इसे अपनी अंग्रेज़ी समीक्षा में अनूदित किया है। (*द प्रिंट* में छपी योगेंद्र यादव की समीक्षा और उस पर राजमोहन गाँधी की प्रतिक्रिया के लिंक इस लेख के अंत में उपलब्ध हैं। जिन पाठकों की इनमें दिलचस्पी है, वे इन्हें देख सकते हैं)। दोनों के फ़र्क़ को मैं इस लेख में आगे रेखांकित करूँगा। मगर फ़िलहाल इतना कहना ज़रूरी है कि अभय के इन पदों का इस्तेमाल करते हुए मैं 1990 के बाद के इस वैचारिक विन्यास को मध्यमार्गी विमर्श या बहुसंख्यकतावाद-विरोधी विमर्श ही कहूँगा, क्योंकि जैसा कि हम देखेंगे यह महज़ 1980 तक के वर्चस्वी सेकुलर विमर्श का विस्तार या विकास नहीं है। साथ ही जहाँ ज़रूरत होगी वहाँ दोनों में फ़र्क़ करने के लिए 1980 और उससे पहले के विमर्श के लिए मैं 'सेकुलर' शब्द का ही इस्तेमाल करूँगा। यहाँ शायद यह भी साफ़ कर देना चाहिए कि ख़ुद अभय के सूत्रीकरण में यह फ़र्क़ उतना स्पष्ट नहीं है— शायद यह उनका इरादा भी नहीं था और उसकी वजह भी हम आगे देखेंगे।

जैसा कि मैंने ऊपर इशारा किया है, मध्यमार्गी विमर्श की जिन अवहेलनाओं की अभय आलोचना करते हैं उनका ताल्लुक़ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में उसकी एकांगी और सतही समझ से है जो निरंतर हिंदू एकता गढ़ने के लम्बे और व्यापक इतिहास के साथ उसके रिश्ते को पहचानने से कतराता है।

हिंदू एकता का प्रोजेक्ट और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

इस किताब में अभय लगातार इस बात की ओर ध्यान तो खींचते हैं कि किस तरह यह बहुसंख्यकतावाद-विरोधी विमर्श (उर्फ़ मध्यमार्गी विमर्श) हिंदू समाज को सुधार के माध्यम से एकताबद्ध करने के इतिहासों के साथ आरएसएस के लम्बे रिश्ते को नकारता है; साथ ही उसके इस नकार में वे एक और प्रवृत्ति की शिनाख़्त करते हैं। यह प्रवृत्ति आरएसएस को एक अजूबे और फ़र्ज़ी क़िस्म की पैदाइश के रूप में देखने की प्रवृत्ति है जिसके बारे में वह मान लेता है कि उसका असल हिंदू धर्म से कोई लेना-देना नहीं है, बल्कि विरोध ही है। ज़ाहिर है कि यहाँ पर मूल सवाल जाति का है। ख़ासकर दलित और बहुजन जातियों का, और हिंदू धर्म की मुख्यधारा से और संघ के बदलते किरदार से उसके रिश्ते का। अभय का मानना यह है कि ऐसा सोचने के पीछे इस विमर्श के पैरोकारों की यह मान्यता काम करती है कि यह संगठन सिर्फ़ एक अमीरपरस्त ब्राह्मणवादी संगठन है जिसकी पैठ हद से हद बनियों के बीच में बन पाई है।

गोलवलकर की रहनुमाई के दौर से लेकर 1973 के उस ऐतिहासिक क्षण तक जब बालासाहब देवरस ने संघ की कमान सँभाली और उसके बाद भी उसमें आये परिवर्तनों से गुज़रते हुए अभय एक लम्बी अवधि के दौरान संघ का जायज़ा लेते हैं। वे दिखाते हैं कि किस तरह 1974 में पूना में आयोजित होने वाली वसंत व्याख्यानमाला के मंच से दिया गया देवरस का वह भाषण, जिसमें वे अस्पृश्यता की खुलकर आलोचना करते हुए संघ को एक नयी दिशा प्रदान करते हैं, दरअसल यह एक मील का पत्थर साबित हुआ। यहीं से शुरू होता है वह दौर जब संघ लगातार दलित और पिछड़ी जातियों को अपने संगठन और प्रभाव-क्षेत्र में खींच कर लाने के लिए तत्परता से जुट जाता है। यही वह वक़्त भी है जब संघ राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाने की तरफ़ आगे बढ़ता है। अभय की शिकायत यह है कि उस ज़माने की और उसके बाद की सेकुलर जमात के लोगों ने इस सब की ओर कोई तवज्जो ही

नहीं दी, क्योंकि उनके लिए यह सब शब्दाडम्बर मात्र ही था जिसका संघ के बदलते किरदार से और दलित बहुजन जातियों से बनते उसके संबंधों का कोई संबंध नहीं था। दरअसल इस पूरे प्रकरण में अभय संघ द्वारा हिंदू एकता के लक्ष्य को हासिल करने के लिए अपनाए जा रहे तरह-तरह की नयी कोशिशें देखते हैं जिसे शब्दाडम्बर मान कर ख़ारिज कर देना सच्चाई से मुँह मोड़ लेने के सिवा कुछ भी नहीं है।

किताब का दूसरा दिलचस्प पहलू यह है कि इसमें अभय हिंदू सुधार और हिंदू एकता के प्रोजेक्ट के दो अलहदा क्षण चिह्नित करते हैं जिनसे वे संघ का सीधा रिश्ता देखते हैं। पहला चरण 1875 में आर्य समाज की स्थापना से शुरू हो कर 1893 के स्वामी विवेकानंद के शिकागो लेक्चर से होता हुआ बीसवीं सदी के दूसरे दशक के मध्य तक फैला हुआ है जिसमें स्वामी दयानंद सरस्वती और विवेकानंद के अलावा स्वामी श्रद्धानंद व कर्नल यू.एन. मुखर्जी जैसे महारथी शामिल हैं जिनके ज़रिये उस विमर्श के वे तत्त्व वजूद में आते हैं जिनके आधार पर हिंदुत्व की अवधारणा गढ़ी जाती है। अभय के मुताबिक़ दूसरा चरण 1915 से 1925 तक का है जिसमें बालकृष्ण शिवराम मुंजे और विनायक दामोदर सावरकर हिंदुत्व और हिंदू एकता की धारणा का व्यवस्थित सूत्रीकरण पेश करते हैं।

इन दोनों के बीच संबंध को सामने लाने का अभय का आग्रह एक अर्थ में इसलिए बेहद महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस ख़ेमे के बेहतरीन बुद्धिजीवी भी, वे जो इस हक़ीक़त को जानते हैं, वे भी इस रिश्ते को कुबूलने से गुरेज़ करते हैं— विशेषकर इसलिए क्योंकि उन सुधार आंदोलनों और एकता की कोशिशों के केंद्र में दरअसल दलित-बहुजन जातियों का सवाल था। संघ के बारे में उनकी यह मान्यता है कि वह एक ब्राह्मणवादी संगठन है, उनके द्वारा इस सच्चाई को कुबूलने में आड़े आती है। मगर इसके बाद जब अभय यह कहते हैं कि सेकुलर विमर्श ने पूरी वफ़ादारी के साथ 1970 में के.के. गंगाधरन द्वारा अपनी पुस्तक *सोसियोलॅजी ऑफ़ रिवाइवलिज़म* में रखी गयी प्रस्थापनाओं का अनुसरण किया है तो थोड़ी हैरानी होती है। गंगाधरन के तर्क की मूल दिशा, बक़ौल अभय, यह थी कि उन्होंने पहली बार हिंदू पुनरुत्थानवाद पर बिना सिख या मुसलिम पुनरुत्थानवाद के परिप्रेक्ष्य में रखे बिना निशाना साधना शुरू किया। इससे ऐसा लगता है कि अभय यह तय कर चुके हैं कि पहले सिख और मुस्लिम पुनरुत्थानवाद का आविर्भाव होता है और फिर हिंदू पुनरुत्थानवाद फ़क़त उसकी प्रतिक्रिया में उभरता है। इस विषय पर अब तो इतना काम उपलब्ध है कि मैं उस बहस को पाठकों को ख़ुद तय करने के लिए छोड़ देता हूँ मगर जो बात कम हैरान करने वाली नहीं है, वह अभय का यह दावा है कि सेकुलर विमर्श के लिए गंगाधरन का काम बिल्कुल बुनियादी अहमियत रखता है, जैसे वही उसकी नींव हो। मैंने दरअसल गंगाधरन साहब के काम के इस बुनियादी किरदार के बारे में अभय की किताब से ही जाना— भले ही मैं कम से कम तीस साल से इस विषय से जूझ रहा हूँ। अब यह मैं अन्य स्कॉलरों पर छोड़ता हूँ कि वे इसकी पड़ताल करके सच का पता लगाएँ। कहीं ऐसा तो नहीं कि अभय भी अपनी सुविधा के मुताबिक़ एक ऐसा पाठ चुन ले रहे हैं जिससे उन्हें अपनी थीसिस खड़ी करने में सुविधा होती है? अगर ऐसा है तो फिर उनमें और उन सेकुलर या बहुसंख्यकवाद-विरोधी बुद्धिजीवियों में क्या फ़र्क़ रह जाता है जिनकी वे आलोचना करते हैं?

इस लिहाज़ से यह बात कुछ खलती है कि अभय जहाँ हिंदू एकता और संघ पर अध्ययन करते हुए इतनी सावधानी बरतते हैं, उसके अंदर चल रहे छोटे-मोटे बदलावों पर भी अपनी पैनी नज़र जमाये रखते हैं वहीं जब वे सेकुलर एवं बहुसंख्यकवाद-विरोधी विमर्शों की बात करते हैं उनकी सावधानी न जाने कहाँ रुख़सत हो जाती है। तब वे अचानक 1970 में गंगाधरन द्वारा रखे गये नितांत व्यक्तिगत नज़रिये को एक बुनियादी प्रस्थापना के रूप में पेश तो करते ही हैं, उस में आ रहे तमाम तरह के महत्त्वपूर्ण बदलावों को भी वे नज़रअंदाज़ कर जाते हैं। पद्धति के ऐतबार से भी यह सवाल पूछा जाना चाहिए कि दो अतुल्य चीज़ों की तुलना वे कैसे करते हैं या दोनों को एक-सा वज़न कैसे

देते हैं ? एक ओर संघ जैसे केंद्रीकृत संगठन के सरसंघचालक हैं, जो अपने संगठन में निर्विवाद पितामह होते हैं जिनकी बात सबके लिए क़ानून होती है और दूसरी तरफ़ गंगाधरन जैसे स्वतंत्र बुद्धिजीवी या एजाज़ अहमद (जिन्हें भी अभय बाद के वक़्त के लिए गवाह के तौर पर खड़ा करते हैं) जैसे बुद्धिजीवी जो पार्टी-सम्बद्धता रखते हुए भी किसी भी तरह की निर्णायक भूमिका नहीं रखते हैं। अभय दुबे समेत हमारे जैसे स्वतंत्र बुद्धिजीवी बेशक कुछ भी लिखते रहें, वह किसी सेकुलर या बहुसंख्यकवाद-विरोधी मुहिम की लाइन नहीं बनती और अगर कोई यह दावा करता है कि गंगाधरन हमारे पितामह की तरह थे तो फिर उसे सुबूत के साथ दर्शाना ज़रूरी हो जाता है। मगर अभय ऐसा नहीं करते।

सेकुलर विचारतंत्र (आइडियोलॅजी) बनाम बहुसंख्यकवाद-विरोधी विमर्श

मेरी समझ से अभय की किताब की जो केंद्रीय बात है जिसकी परतें खोलने की ज़रूरत है, वह है सेकुलर आइडियोलॅजी या विमर्श की जगह उनके द्वारा लगातार इस्तेमाल किया गया पद मध्यमार्गी विमर्श या बहुसंख्यकवाद-विरोधी विमर्श। ऐसा इसलिए भी ज़रूरी हो जाता है क्योंकि एक जगह इस विमर्श को परिभाषित करते हुए अभय कहते हैं कि भारतीय उदारतावाद के मर्म की रचना करने वाला यह विमर्श वामपंथी, दक्षिणपंथी, सेकुलरवादी, राष्ट्रवादी, संस्कृतिवादी, आधुनिकतावादी, आम्बेडकरवादी, संविधानपरक, बहुलतावादी, समतावादी और बाज़ारवादी-विकासवादी विचारों के विविध अंशों से मिल कर बना है। इसमें हिंदू-दर्शन, भारतीय इस्लाम और भारतीय ईसाइयत एवं बौद्ध-जैन विचार-श्रेणियाँ भी शामिल हैं। अभय के अनुसार इसमें ये सब तत्त्व शामिल हैं मगर हिंदुत्ववाद और माओवाद नहीं— जो ज़ाहिर है दक्षिण और वाम के दो छोर हैं जिनके बीच में यह मध्यमार्ग विचरण करता है। मुझे लगता है कि इस बड़े फ़लक पर इसे परिभाषित करने से उसके बारे में कुछ भी कह पाना लगभग असम्भव हो जाता है, क्योंकि उसका वैशिष्ट्य ही इस क्रम में कहीं लुप्त हो जाता है। दरअसल, मेरे हिसाब से इस बड़े वैचारिक फ़लक का भी एक रूप विमर्श में देखने को मिलता है और उसका एक नाम भी है ऐतिहासिक तौर पर इसे जंगे-आज़ादी के जमाने में बने इंडियन नैशनल कांग्रेस के सेकुलर नैशनलिज़म के रूप में समझा जा सकता है जिसमें तक़रीबन वे तमाम तत्त्व शामिल थे जिनकी गिनती अभय करवाते हैं। मगर इस स्तर पर इसे विमर्श कहना ज़रा मुश्किल ही है। यह एक दौर की वैचारिक आबो-हवा थी जिसमें कई क़िस्म के विमर्श देखने को मिल सकते थे। लिहाज़ा मेरा ख़याल यह है कि दरअसल जिसे बहुसंख्यकवाद-विरोधी विमर्श कहा जा सकता है, वह कुछ अलग ही शय है।

पिछले साढ़े तीन दशकों के संघर्षों की बिल्कुल सतही जानकारी रखने वाले भी देख सकते हैं कि दरअसल 1979-1992 का 'कंजक्चर' इस संदर्भ में बिल्कुल क्रिटिकल था, और यहाँ मैं अकादमिक काम की बात नहीं बल्कि ठोस आंदोलनों की बात कर रहा हूँ। सेकुलर-आइडियोलॅजी की योगेंद्र यादव जिन तमाम बातों के लिए आलोचना करते हैं वह इस से पहले के दौर के विमर्श पर पूरी तरह लागू होती है— मगर मेरी समझ से अभय का ख़ुद का संदर्भ-बिंदु अलग है। फिर भी यह सही है कि हिंदू धर्म की मान्यताओं और प्रथाओं को लेकर एक क़िस्म का ग़ैर-धार्मिक, हिकारत भरा रवैया उस पर हावी रहता था और कमोबेश वह मुस्लिम साम्प्रदायिकता के बारे में ज़्यादा कुछ कहने से कतराता था। फिर भी, यह सब मानते हुए भी दो एक बातें यहाँ दर्ज करना ज़रूरी है। चूँकि पुराने सेकुलरवाद के बारे में ये धारणा अब रूढ़ हो चली है इसलिए अकसर हम यह भूल जाते हैं कि कम अज़ कम वामपंथ के संदर्भ में मुस्लिम समाज से आने वाले वामपंथी उसी मुस्तैदी से अपने समाज के फ़िरक़ापरस्तों की आलोचना किया करते थे और उसके ठेकेदारों से उलझते रहते थे जितना कि हिंदू समाज से आने वाले वामपंथी अपने फ़िरक़ापरस्तों से करते थे। यह बात प्रगतिशील लेखक संघ के शुरुआती दौर से लगातार देखी जा सकती है और यह भी जानी हुई बात है कि तरक़्क़ीपसंद मुस्लिम

उर्दू लेखकों के ऊपर सबसे ज़्यादा हमले उन्हीं के फ़िरक़ापरस्तों की तरफ़ से ज़्यादा हुए। और यह स्थिति लगातार 1980 के दशक के अंत तक बनी रही। यह अस्सी के दशक के अंत में शाह बानो मामले में सुप्रीम कोर्ट के फ़ैसले के इर्द-गिर्द हुए विवाद में इन मुस्लिम वामपंथियों के स्टैंड में देखी जा सकती हैं— ख़ास तौर पर उस फ़ैसले को रद्द करने के लिए लाए गये मुस्लिम महिला बिल के उनके विरोध में साफ़ साफ़ दीख पड़ती है। और चूँकि अभय और योगेंद्र दोनों की परिभाषा में सेकुलर जमात में नारीवादी भी शामिल होते हैं इसलिए इस बात को भी पुरज़ोर ढंग से दोहराने की ज़रूरत है कि मुस्लिम महिला विधेयक का सबसे ज़बरदस्त विरोध नारी आंदोलन की जानिब से हुआ था। इसलिए यह कहना कि सेकुलरवादी और वामपंथी सिर्फ़ हिंदू साम्प्रदायिकता की ही आलोचना करते थे क़तई सही नहीं है।

जिस काउंटर-ट्रेडिशन की आज नये सिरे से खोज चल रही है उसे हिंदू एकता के पहले चरण की खोज के समकक्ष रख कर ही देखना होगा क्योंकि इनमें अंततः सवाल अतीत के सत्य का नहीं है— उसे न अभय हमेशा के लिए साबित कर सकते हैं और न कोई और। दोनों ही परम्पराओं की खोज के नाम पर असल में उसे नये सिरे से अपने आज के संदर्भ में गढ़ रहे होते हैं और सही मायने में कोई और रास्ता है भी नहीं। मिसाल के तौर पर महिषासुर को लेकर जो पिछले दिनों बहसें चलीं उनसे यह तो पता चला कि सिर्फ़ बंगाल और झारखण्ड ही में नहीं बल्कि छत्तीसगढ़ तक, यहाँ तक के मैसूर तक इस परम्परा का असर देखने को मिलता है। यह एकबारगी एक खोज भी है और नया ईज़ाद भी। दूसरे शब्दों में लड़ाई अब ख़ालिस राजनीति के दायरे से निकल कर सांस्कृतिक ज़मीन पर आ गयी है और यह प्रक्रिया एक अर्थ में अभी शुरू ही हुई है।

जो भी हो, यह तो सही ही है कि वह विमर्श काफ़ी हद तक एक अंग्रेज़ीदाँ वर्ग का विमर्श था, हालाँकि उसका प्रभाव उस हद तक सीमित नहीं था, और एक बहुत बड़े भाषाई लिटराटी में भी उसकी अच्छी ख़ासी पैठ थी। यह बात अकसर जानबूझ कर नज़रअंदाज़ कर दी जाती है। और यह भी याद रखना ज़रूरी है कि एक ज़माने में उसकी तूती बोलती थी। ऐसा नहीं था कि व्यापक अवाम पर उसका कोई असर नहीं था। इसमें कांग्रेस के सेकुलर-राष्ट्रवाद के अलावा वामपंथ का अपने अंदाज़ का विमर्श भी था और मैंने जितना इसका अध्ययन किया है या बंगाल और केरल के संदर्भ में इसे नजदीक से देखा है और समझ पाया हूँ, इसका बर्ताव वैसा फूहड़ और अतिसरलीकृत क़िस्म का सेकुलरवादी नहीं था जैसा अकसर दर्शाया जाता है। इन दोनों राज्यों के तजुर्बे का अध्ययन होना अभी बाक़ी है मगर यह तो साफ़ है कि जिसे जे. देविका केरल के संदर्भ में एक मलयाली नैशनल-पॉपुलर के निर्माण के रूप में सूत्रबद्ध करती हैं, वह कमोबेश बंगाल के संदर्भ में भी सही है, बेशक़ बाद में वह कितना ही समस्यापूर्ण साबित हुआ हो।

दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जहाँ बहुत-सी बातें जिनकी ओर अभय हमारा ध्यान खींच रहे हैं आंशिक रूप से सही है, वहीं यह भी सच है कि वामपंथ (और कुछ हद तक कांग्रेस भी) का प्रोजेक्ट बिल्कुल अलग ही था— जिसके बुनियादी पद हिंदू और मुसलमान नहीं थे। सेकुलरिज़्म तो 1980 के दशक में ही मंच पर केंद्रीय स्थान ग्रहण करने लगा उससे पहले नहीं। 1980 और 1990 के दशकों के संकट ने दिखा दिया कि एक तरफ़ इस प्रोजेक्ट में तो दूसरी तरफ़ हिंदुत्व के प्रोजेक्ट में सबसे बड़ी कमज़ोरी जाति के सवाल पर थी। मण्डल आयोग के कार्यान्वयन को लेकर हुए बवाल में तो यह स्पष्ट हो ही गया था कि पिछड़ी और दलित जातियों को लेकर दोनों तरफ़ काफ़ी समस्याएँ हैं। हिंदुत्व के संदर्भ में इसके बावजूद कि 1974 से तो इस मसले को संघ तरजीह दे ही रहा था हालाँकि तरजीह देने के उसके तरीक़े में भी दिक़्क़तें थीं जैसा कि भँवर मेघवंशी के संस्मरण (मैं एक

कार सेवक था) से पता चलता है। फिर भी भँवर मेघवंशी के बयान से यह भी साफ़ पता चलता है कि बाबरी मस्जिद ढहाए जाने के समय कारसेवकों में दलित और बहुजन जातियों की अच्छी-ख़ासी शिरकत थी और यह तथ्य अभय के दावे की पुष्टि ही करता है। आख़िरकार संघ के इस प्रयास का यह शुरुआती दौर ही था और वह इसे प्रयोग की तरह कर के देख रहा था।

दरअसल बाबरी मस्जिद विध्वंस और मण्डल सिफ़ारिशों के लागू होने के इस तूफ़ानी दौर में ही पुराना सेकुलर विमर्श दो अलग दिशाओं में अपने प्रस्थापनाओं का संशोधन करता है। सच तो यह है कि ये तब्दीलियाँ संशोधन से बहुत आगे जाती हैं। पहला क़दम जो उठाया गया वह यह था जिसकी बात अभय और योगेंद्र यादव दोनों करते हैं— साधारण हिंदू मानस का सेकुलरवाद के विमर्श से बढ़ता अलगाव और यह अहसास कि सेकुलरवाद एक मायने में हिंदू भावनाओं की अवहेलना; उसके साथ-साथ एक आक्रामक दक्षिणपंथी ताक़त का आविर्भाव जिससे सेकुलरवादी ख़ुद को घिरा हुआ पाने लगे थे। इस मुक़ाम पर आशिस नंदी द्वारा हिंदुत्व और सेकुलरवाद की आलोचना केंद्रीय महत्त्व लेकर सामने आयी। नंदी दोनों को एक-दूसरे के विरोधी के रूप में न देख कर ये दावा करते दिखे की दोनों असल में एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं और वे इस बात पर ज़ोर देते दिखे कि हिंदुत्व न सिर्फ़ एक आधुनिक और सेकुलर प्रोजेक्ट है बल्कि यह भी कि वह एक मायने में उपनिवेशवाद की अवैध संतान है। अभय मध्यमार्गी विमर्श पर जिस जिस बात की तोहमत लगाते हैं वह सब ही इस दौर की पैदाइश है इसमें यह दावा कि हिंदुत्व हिंदू धर्म को एक सामी धर्म की तर्ज़ पर नये सिरे से ढालने की मंशा रखता था और किसी भी सूरत में हिंदू धर्म का प्रामाणिक हिस्सा नहीं था— भी शामिल था। ये सभी तर्क आशिस नंदी के सेकुलरिज़म विरोधी तरकश से निकले थे— पुराने सेकुलर क़लम से नहीं जिसमें एक गंगा-जमुनी तहज़ीब का जश्न तो था मगर जो हिंदुत्व से अपनी लड़ाई में हिंदू धर्म को गले लगाने को तैयार नहीं था।

दूसरा क़दम जो इस दौर में नवीकरण के इरादे से उठाया गया वह इससे बिल्कुल अलग दिशा में ले जाता है, क्योंकि वह इस अहसास से उभरता है कि उसने जातिगत उत्पीड़न के अन्याय को अब तक गम्भीरता से नहीं लिया और मान लिया था कि आधुनिक शिक्षा के प्रसार के साथ यह ख़ुदबख़ुद ख़त्म हो जाएगा। मण्डल कमीशन के लागू होने और उसके बाद उठे तूफ़ान के बाद आत्म-आलोचना के रूप में यह स्वीकारा जाना लगा कि ऐसा करके जाति-उत्पीड़न के बारे में सवाल उठाना तो अवैध हो गया हालाँकि वास्तव में उत्पीड़न बदस्तूर जारी रहा। कांशीराम द्वारा बहुजन थीसिस का पेश किया जाना और बाबरी मस्जिद के ढहाए जाने के कुछ ही समय बाद उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी के गठजोड़ के हाथों भारतीय जनता पार्टी की पराजय से यकायक ऐसा लगा जैसे उभरते हुए हिंदू दक्षिणपंथ की काट आख़िरकार मिल गयी है और बहुजन जातियों के अभूतपूर्व उभार के सामने हिंदू एकता का ढाँचा चरमरा कर गिरता दिख रहा है। रेडिकल सेकुलर जमात के एक हिस्से को दलित-बहुजनों के उभार में हिंदू धर्म को ख़ारिज करने की गोया नयी ज़ुबान मिल गयी जो उसे सेकुलरवाद की ऊँचाइयों से नहीं बल्कि एक उत्पीड़ित प्रति-परम्परा की ज़मीन से उसे चुनौती दे रही थी।

अभय जिसे मध्यमार्गी विमर्श कहते हैं उसमें ये सभी तत्त्व भी शामिल हैं, जैसे शामिल हैं आम्बेडकरवादी व पेरियारवादी तत्त्व और इन सब के बीच संवाद बेशक़, एक बेहद तनावपूर्ण संवाद, इसी दौर में पहली बार उभर कर सामने आता है। अभय बिल्कुल सही ढंग से इसे बहुसंख्यकवाद-विरोधी विमर्श क़रार देते हैं, सेकुलर नहीं, मगर वे उनके बीच की आपसी अदावतों पर पर्दा डाल कर ऐसी एक तस्वीर पेश करते हैं की उस अँधेरी रात में सारी गायें काली ही दिखाई देती हैं। ऐसा लगता है जैसे ये सब एक ही जमात के लोग हैं जो बेवक़ूफ़ों की तरह, बिना संघ को समझे उसके ख़िलाफ़ जंग छेड़े हुए हैं। ये बात कि इन सब धाराओं के अपने इतिहास हैं, अपने कारण हैं संघ के ख़िलाफ़ मैदान में उतरने के और सबके तर्क अलग हैं— इन सब पर इस तरह पर्दा पड़ जाता है जैसे इनका

अपना कोई वजूद ही नहीं है— अंध संघ-विरोध के अलावा इन्हें और कोई काम भी नहीं है। इस वजह से अभय यह नहीं देख पाते कि यह एक बड़ा वैचारिक क्षेत्र है जिसमें एक साथ कई सारे विमर्श विराजमान हैं और शायद इनमें से कोई भी गंगाधरन को अपना पूर्वज न मानता हो।

इतना ही नहीं, अभय इस बात को भी नज़रअंदाज़ करते हैं कि बावजूद इसके कि सामाजिक न्याय की राजनीति का दिवालियापन आज बिल्कुल निर्विवाद रूप से साफ़ हो चुका है और दलित-मुस्लिम एकता गढ़ने की कोशिशें भी नाकाम हो चली हैं, दलितों और ग़ैर-दलित बहुजन जातियों की अपनी प्रति-परम्पराएँ भी हैं जिन्हें नये सिरे से गढ़ने या ईज़ाद करने को लेकर आज ज़बरदस्त मंथन चल रहा है। इस लेख के दायरे में तो इस पर तफ़सील से बात करना सम्भव नहीं है मगर इस बात को दर्ज करना मुझे ज़रूरी लगता है कि किताब पढ़ते हुए यह अहसास हुए बिना नहीं रहा जाता है कि अभय ने मध्यमार्गी विमर्श की एक ग़लती की आलोचना करते हुए ऐसी पींग भरी है कि वे अब दूसरे छोर पर पहुँच गये हैं। अगर मध्यमार्गी विमर्श ने यह मान लिया कि दलित-बहुजन जातियों का हिंदू धर्म से कोई लेना-देना ही नहीं है और इस वजह से वे देखते ही रह गये और संघ उन्हें लामबंद करने में काफ़ी हद तक कामयाब हो गया, तो अब अभय ने यह मान लिया है कि गोया, दलित बहुजन जातियाँ दरअसल हिंदू ही हैं। याद रहे कि अभय की परिभाषा के अनुसार मध्यमार्गी विमर्श के पैरोकार सिर्फ़ सवर्ण बुद्धिजीवी ही नहीं हैं, बल्कि इनमें आम्बेडकरवादी, पेरियारवादी इत्यादि भी शामिल हैं। और, अभय अपने नये मुक़ाम से हिंदू धर्म से अलग होने की और उससे अदावत की इन धाराओं के दावों को सिरे से ख़ारिज करते दिखाई देते हैं। दरअसल जिस काउंटर-ट्रेडिशन की आज नये सिरे से खोज चल रही है उसे हिंदू एकता के पहले चरण की खोज के समकक्ष रख कर ही देखना होगा क्योंकि इनमें अंततः सवाल अतीत के सत्य का नहीं है— उसे न अभय हमेशा के लिए साबित कर सकते हैं और न कोई और। दोनों ही परम्पराओं की खोज के नाम पर असल में उसे नये सिरे से अपने आज के संदर्भ में गढ़ रहे होते हैं और सही मायने में कोई और रास्ता है भी नहीं। मिसाल के तौर पर महिषासुर को लेकर जो पिछले दिनों बहसें चलीं उनसे यह तो पता चला कि सिर्फ़ बंगाल और झारखण्ड ही में नहीं बल्कि छत्तीसगढ़ तक, यहाँ तक कि मैसूर तक इस परम्परा का असर देखने को मिलता है। यह एकबारगी एक खोज भी है और नया ईज़ाद भी। दूसरे शब्दों में लड़ाई अब ख़ालिस राजनीति के दायरे से निकल कर सांस्कृतिक ज़मीन पर आ गयी है और यह प्रक्रिया एक अर्थ में अभी शुरू ही हुई है। अगर हिंदू एकता के प्रोजेक्ट को यहाँ तक पहुँचने में सौ साल से ज़्यादा लग गये और कई उतार-चढ़ावों और नाकामियों के बाद आज वह यहाँ पहुँचा है, तो ऐसा क्यों मान लिया जाए कि चंद ही सालों में बहुजन विमर्श का ज़माना चुक गया है? वैसे भी इतिहास को 'जो जीता वही सिकंदर' वाले अंदाज़ में पढ़ने का काम बहुत जोखिम भरा है और अभी तो यह लड़ाई अपनी असली ज़मीन पर आयी है। राजनीति के मैदान से उतर कर सांस्कृतिक परिवर्तन की ज़मीन पर। इस सीरियल के अभी बहुत एपिसोड बाक़ी हैं और देखना है कि दूसरी परम्परा की यह खोज कहाँ और किस ओर ले जाती है।

संदर्भ

भँवर मेघवंशी (2019), *मैं एक कार सेवक था,* नवारुण, कोलकाता.
योगेंद्र यादव के लेख के लिए देखें : https://theprint.in/opinion/this-hindi-book-on-indian-secularism-could-have-exposed-liberals/456775/.
राजमोहन गाँधी की प्रतिक्रिया के लिए देखें : https://theprint.in/opinion/indian-secularism-still-has-a-future-if-followers-stop-blame-game-with-rss-rajmohan-gandhi/460265.